
इकाई 12 लगान, ब्याज तथा लाभ

इकाई की रूपरेखा

- 12.0 उद्देश्य
- 12.1 प्रस्तावना
- 12.2 भूमि की सेवाओं का प्रतिफल : लगान
 - 12.2.1 रिकार्डों का लगान सिद्धांत
 - 12.2.2 मार्शल का लगान सिद्धांत
 - 12.2.3 आधुनिक लगान सिद्धांत
- 12.3 पूँजी की सेवाओं के लिए पारिश्रमिक प्रतिफल : ब्याज
 - 12.3.1 ब्याज की विभिन्न अवधारणाएँ
 - 12.3.2 पूँजी, निवेश तथा ब्याज
 - 12.3.3 वाम्त्विक एवं मार्केटिक ब्याज की दर
 - 12.3.4 ब्याज संबंधी सिद्धांत या अवधारणाएँ
- 12.4 उद्यम वृत्ति का पुरस्कार : लाभ
 - 12.4.1 लेखा-लाभ तथा आर्थिक लाभ
 - 12.4.2 लाभ के सिद्धांत
- 12.5 सारांश
- 12.6 शब्दावली
- 12.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

12.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम गैर-श्रम उत्पादन साधनों के प्रतिफलों के निर्धारण पर विचार कर रहे हैं :

- लगान की अवधारणा के उद्गम को समझ सकेंगे और उसकी व्याख्या कर सकेंगे;
- लगान की अवधारणा को अन्य उत्पादन साधनों पर भी लागू कर सकेंगे,
- जान सकेंगे कि ब्याज की दरों का निर्धारण कैसे होता है, और उनमें बदलाव क्यों आता है, तथा
- समझा सकेंगे कि अर्थव्यवस्था में लाभ कैसे उत्पन्न होते हैं ।

12.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम गैर-श्रम उत्पादन साधनों के प्रतिफलों के बारे में बात करेंगे । इस संबंध में हम जो भी विचार या सिद्धांत पढ़ेंगे उनसे हमें यह पता चलेगा कि सभी उत्पादन साधनों पर लागू समझे जाने वाले वितरण के सीमांत उत्पादिता सिद्धांत की भी कुछ सीमाएँ हैं । हमें पता चलेगा कि किस प्रकार भूमि, पूँजी तथा उद्यम के प्रतिफलों की निर्धारण श्रम में प्रयुक्त सीमांत उत्पादिता से भिन्न है । वस्तुतः इन तीनों ही साधनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं और इन्हीं के कारण इनमें से प्रत्येक के लिए अलग विधि अपनाना आवश्यक हो जाता है ।

12.2 भूमि की सेवाओं के लिए प्रतिफल : लगान

यद्यपि आज हम लगान या भाड़ा शब्द का प्रयोग किसी भी परिसम्पत्ति के प्रयोग के बदले में किए गए अनुबंधिक भुगतान के लिए कर लेते हैं, जैसे किसी दुकान, मकान, भूमि के टुकड़े या मशीन का भाड़ा आदि पर अर्थशास्त्री सदा से ही लगान को भूमि की सेवाओं से ही जोड़ते रहे हैं। यही नहीं, लगान के विचार की व्युत्पत्ति उस सामंती सामाजिक व्यवस्था से हुई है जहाँ ज्यादातर भूमि पर बड़े-स्वामी या सामंतों को अधिकार होता था। वे उस भूमि पर खेती करने वाले किसानों से कुछ रकम वसूल करते थे। भूमि की उर्वरा शक्ति के प्रयोग के बदले में किया गया भुगतान ही लगान कहलाता था।

लगान विषयक सिद्धांतों का मूलतः हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं : (i) प्रतिष्ठित या रिकार्डो का सिद्धांत तथा (ii) आधुनिक सिद्धांत।

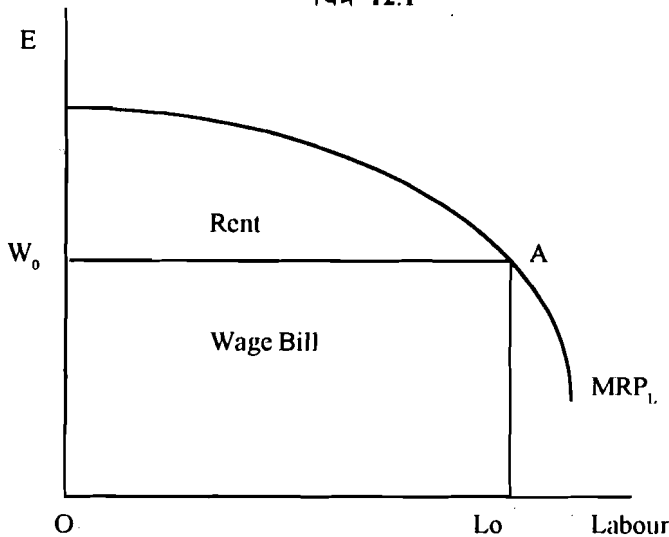
12.2.1 रिकार्डो का लगान सिद्धांत

लगान के मौलिक सिद्धांत का प्रतिपादन डेविड रिकार्डो (David Ricardo) ने किया। उसका विचार था कि प्रकृति ने भूमि को कुछ मूलभूत एवं अनश्वर शक्तियाँ प्रदान की हैं। इन्हीं शक्तियों के परिणामस्वरूप भूमि से प्राप्त उत्पादन उस पर प्रयुक्त सभी आगतों की तुलना में कहीं अधिक होता है। अतः कृषि कार्य में लगे सभी अन्य कारकों को मुआवजा देने के बाद भी अतिरेक (surplus) बचता है। इस अतिरेक पर भूमि के स्वामी का हक होता है। इस प्रकार कृषि कार्यों से उत्पन्न अतिरेक एक लगान है। लगान का उत्पन्न होना हम दो प्रकार से दिखा सकते हैं:

i) गहन खेती, और (ii) विस्तृत खेती।

i) **गहन खेती (Intensive Cultivation)** : एक किसान अपने भू-खण्ड पर खेती के लिए तब तक श्रमिक लगाता रहता है जब तक कि श्रमिक की सीमांत उत्पादिता उसकी बाज़ार में निर्धारित मज़दूरी से अधिक रहती है। चित्र 12.1 में OW_0 मज़दूरी की दर पर OL_0 श्रमिकों को काम पर रखा जाता है। अतः श्रम का कुल उत्पाद $OAELO$ के समान रहता है।

चित्र 12.1

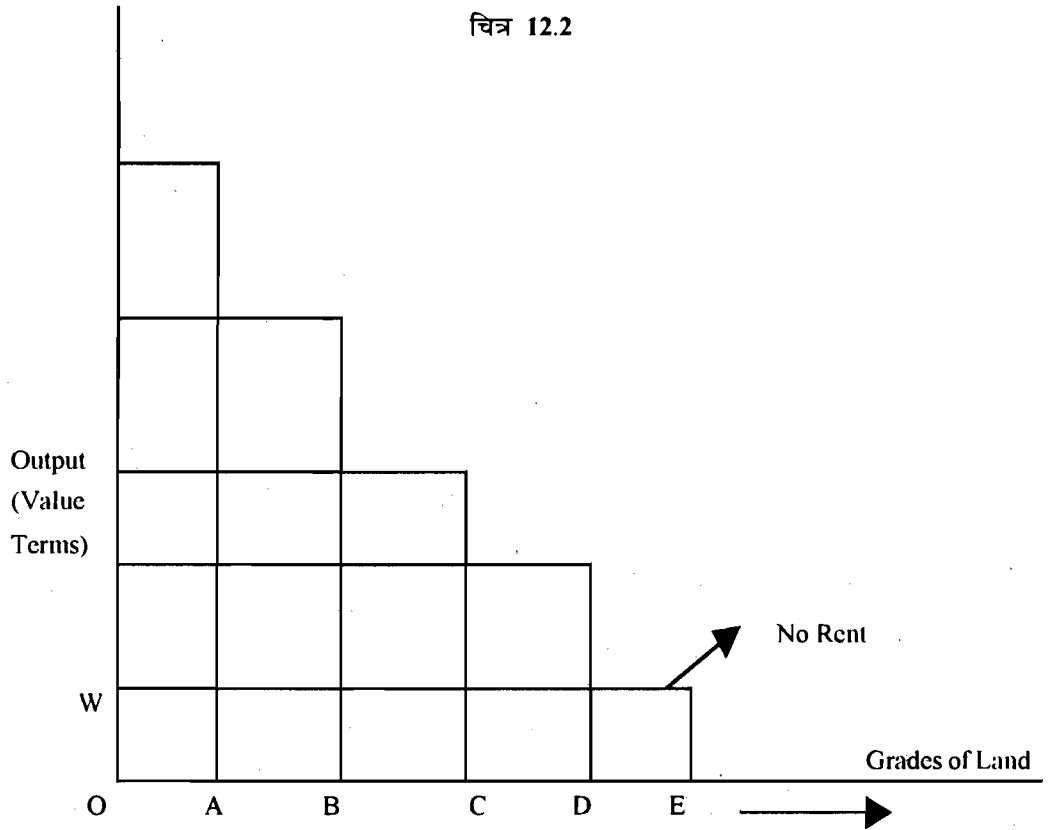


चित्र 12.1 में हमने श्रम की हासमान सीमांत आगम उत्पाद-वक्र के द्वारा कुल उत्पादन में श्रम का हिस्सा (= मज़दूरी) निर्धारित किया है। शेष राशि अतिरेक है जिसे लगान कहते हैं।

किंतु इसमें से आयत $OWoELo$ के समान राशि ती मज़दूरी है। अतः श्रमिकों को बाज़ार दर पर मज़दूरी देने के बाद भी भू-स्वामी के पास $WoAE$ के समान राशि एक प्रकार के आधिक्य या अतिरेक के रूप में बची रहती है। इसी को कुल उत्पादन में भूमि का हिस्सा या लगान कहा जा सकता है।

- ii) **विस्तृत खेती (Extensive Cultivation)** : ऐसी खेती में लगान ज्ञात करने हेतु हम मानकर चलते हैं कि हमारे पास अनेक प्रकार की गुणवत्ता वाले भू-खण्ड हैं। हम सर्वश्रेष्ठ को **A**, उससे निम्न को **B** तथा इसी तरह निम्नतर गुणवत्ता सम्पन्न खण्डों को **C, D, E** आदि अक्षरों से दर्शाते हैं। शुरू में तो किसान सबसे बढ़िया किस्म की भूमि जोतेगा। लेकिन जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती जाती है कृषि उत्पादों की माँग भी बढ़ती जाती है। अतः धीरे-धीरे नीचे के स्तर की भूमियों पर भी खेती आरम्भ हो जाती है। **E**-स्तर की भूमि पर भी उत्पादन होने लगता है।

मान लो कि **E**-स्तर की भूमि पर हुए उत्पादन का मूल्य आगतों के मूल्य के समान है। अतः **E**-स्तर की भूमि से कोई अतिरेक प्राप्त नहीं होता। इस **E**-स्तर की भूमि को हम सीमांत भू-खण्ड का नाम देते हैं। अन्य सभी भू-खण्ड **A, B, C** तथा **D** पर हमें जो उत्पादन प्राप्त होते हैं, उनके मूल्य लागतों से अधिक रहते हैं हम वह मानकर चलते हैं कि सभी भू-खण्डों पर लागतों का स्तर एक समान रहता है। कुल उत्पादन मूल्य का लागतों से आधिक्य ही लगान कहा जाता है।



चित्र 12.2 में पाँच भू-खण्ड हैं, **A, B, C, D** तथा **E**, इनमें **A** सबसे श्रेष्ठ, **B** उससे घटिया तथा अन्ततः **E** सबसे घटिया है। अक्षर **A, B, C, D** तथा **E** के ऊपर बने खानों (bars) की ऊँचाई उत्पादन के कुल मूल्य को दर्शाती है। मान लो कि **E**-स्तर की भूमि पर कुल उत्पादन का मूल्य उत्पादन लागतों के समान ही है। अतः वहाँ किसी तरह का आधिक्य नहीं बचता। उत्पादन की लागतें ($=OW$) सभी भू-खण्डों पर एक समान है। अतः शेष चारों भू-खण्डों से हमें कुछ न कुछ आधिक्य अवश्य मिलता है। हम स्पष्टतः देख सकते हैं कि **A**-स्तर की भूमि पर सबसे ज़्यादा आधिक्य मिलता है। उत्पादन लागतों से ऊपर बच रहे आधिक्य को ही लगान का नाम दिया गया है।

इस विश्लेषण से एक बात स्पष्ट होती है : केवल अच्छे स्तर की भूमि पर ही आधिक्य की प्राप्ति होती है। भू-स्वामियों को प्राप्त यह राशि एक तरह से विभेदक आधिक्य (**defferential surplus**) है। यदि E-स्तर भू-खण्ड से प्राप्त उत्पादन का मूल्य बाज़ार कीमतों की वृद्धि के कारण बढ़कर उत्पादन लागतों से अधिक हो जाए तो हमारा किसान अब तक कृषि की दृष्टि से अनुपयुक्त मानी जा रही है और अधिक घटिया F-स्तर की भूमि पर भी खेती करने का विचार कर सकता है। यही खेती का विस्तारण कहलाता है। यदि उत्पादन का मूल्य कम होने लगे, तो हमारा किसान सीमांत भू-खण्ड पर खेती बंद करने को बाध्य हो सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सीमांत से अधिक गुणवत्ता स्तर के भूखण्ड पर ही आधिक्य प्राप्त होता है और उन्हीं के मालिक लगान कमा पाते हैं। रिकार्डों ने इस तरह से लगान की राशि को उत्पादन की कीमतों के स्तर से जोड़ दिया था। यहाँ लगान उस खेत के उत्पादन के निमित्त आई किसी लागत का भुगतान नहीं है जैसे कि श्रम की लागत मज़दूरी के योग के रूप में चुकाई जाती है।

आलोचना : रिकार्डों के सिद्धांत की कई आधारों पर आलोचना हुई है :

- क) ऐतिहासिक दृष्टि से यह आवश्यक नहीं है कि सबसे श्रेष्ठ भूखण्ड पर ही सबसे पहले खेती हुई हो। दूसरे एक आधिक्य के रूप में लगान का निर्धारण विभिन्न भू-खण्डों के खेती करने के क्रमों पर आश्रित भी नहीं रहता।
- ख) रिकार्डों ने भूमि की मौलिक और अनश्वर शक्तियों को ही लगान का स्रोत माना था। किंतु, हम यह जानते हैं कि भूमि की उर्वराशक्ति न तो मौलिक है और न ही अनश्वर। इसमें तकनीक का सहारा लेकर परिवर्तन किए जा सकते हैं। पर यह बात भी हमें माननी ही पड़ेगी कि इसमें रिकार्डों का कोई दोष नहीं है क्योंकि उर्वरा शक्ति में परिवर्तन करने वाली आधुनिक तकनीकों का उनके समय में तो आविष्कार ही नहीं हुआ था। कुछ भी हो हम इस मान्यता को दूसरा रूप दे सकते हैं। हम यह मानकर चल सकते हैं भूमिपूर्ति कीमत लोचहीन होती है।
- ग) रिकार्डों का मानना था कि कृषि क्षेत्र में पूर्ण प्रतियोगिता रहती है। पर यह मान्यता भी शायद ही कभी (कृषि क्षेत्र में) खरी उतरती हो। वस्तुतः तो (आमतौर पर) कुछ ही बड़े-बड़े भू-स्वामी अधिकतर कृषियोग्य भूमि पर कब्जा किए रहते हैं। ऐसी अवस्था में प्रतियोगिता का स्तर बहुत ही संकुचित होता रहता है।
- घ) लगान का एक अनार्जित अधिक्य कहा जाना भी शायद उचित नहीं होगा। भूमि अपने आप श्रेष्ठ स्तर की नहीं हो जाती। इसकी यह श्रेष्ठता पत्थरों की छँटाई, झाड़ियों की सफाई फालतू पानी की समुचित निकासी तथा उपयुक्त सिंचाई की व्यवस्था का परिणाम होती है। इन सभी कार्यों पर लागत आती है। अतः अच्छे स्तर की भूमि की आपूर्ति का स्थिर होना जरूरी नहीं। कुछ लागत लगाकर इसकी मात्रा बढ़ाई जा सकती है।
- च) रिकार्डों ने भूमि के केवल एक उपयोग पर ध्यान दिया था— कृषि पर। यदि हम अन्य वैकल्पिक प्रयोगों के संदर्भ में इस पर विचार करें तो भूमि को इसके वर्तमान प्रयोग में ही लगाए रखने के लिए कुछ-न-कुछ न्यूनतम भुगतान आवश्यक हो जाएगा। इसी को हम हस्तांतरण आय (**transfer earnings**) का नाम देते हैं। दूसरे, इस विचार को केवल भूमि तक सीमित रख पाना भी संभव नहीं होगा— यह अन्य उत्पादक साधनों पर भी समान रूप से लागू हो सकता है।

इन आलोचनाओं के बावजूद रिकार्डों द्वारा आर्थिक प्रगति के साथ-साथ बढ़ने वाले अनार्जित आधिक्य के रूप में लगान का सारे विश्व में नीति निर्धारकों पर बहुत ही गहरा प्रभाव रहा है। हमारे अपने देश भारत में भी अनार्जित आधिक्यों की समाप्ति की ललक ज़मींदारी उन्मूलन जैसे भू-सुधारों का मुख्य आधार रही है।

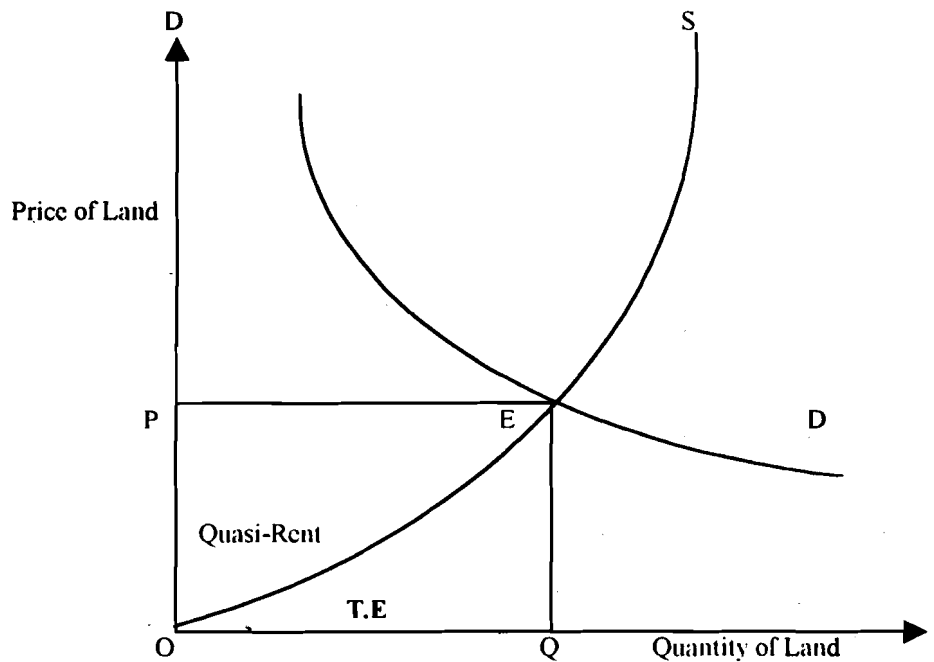
12.2.2 मार्शल का लगान सिद्धांत

अल्फ्रेड मार्शल (Alfred Marshall) ने रिकार्डों के लगान सिद्धांत को अन्य कारकों पर लागू करने का प्रयास किया। उनका विचार था कि यदि किसी भी साधन आपूर्ति निश्चित हो एवं उसमें किसी दी हुई अवधि में मानवीय प्रयासों द्वारा वृद्धि न हो पाए तो उस साधन की आय भी लगान की ही भाँति होगी। इस प्रकार के अल्पकालिक लगान को मार्शल ने आभास लगान (quasi rent) का नाम दिया था। रिकार्डों का लगान एक दीर्घकालिक अवधारणा थी तो मार्शल का आभास लगान मूलतः अल्पकाल से जुड़ा विचार ही है। भूमि की आपूर्ति में दो दीर्घकाल में भी वृद्धि नहीं की जा सकती, पर अन्य साधनों की दीर्घकाल में बढ़ाई जा सकती है।

12.2.3 आधुनिक लगान सिद्धांत

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने मार्शल के विचार को और आगे विकसित किया है। ये लगान का निर्धारण भी किसी भी अन्य साधन कीमत की भाँति माँग एवं आपूर्ति-वक्रों के माध्यम से करते हैं। अतः अब भूमि की सभी इकाइयों की उर्वरा शक्ति एक समान होने पर भी लगान फिर भी होगा जो कि भूमि की दुर्लभता पर निर्भर करेगा।

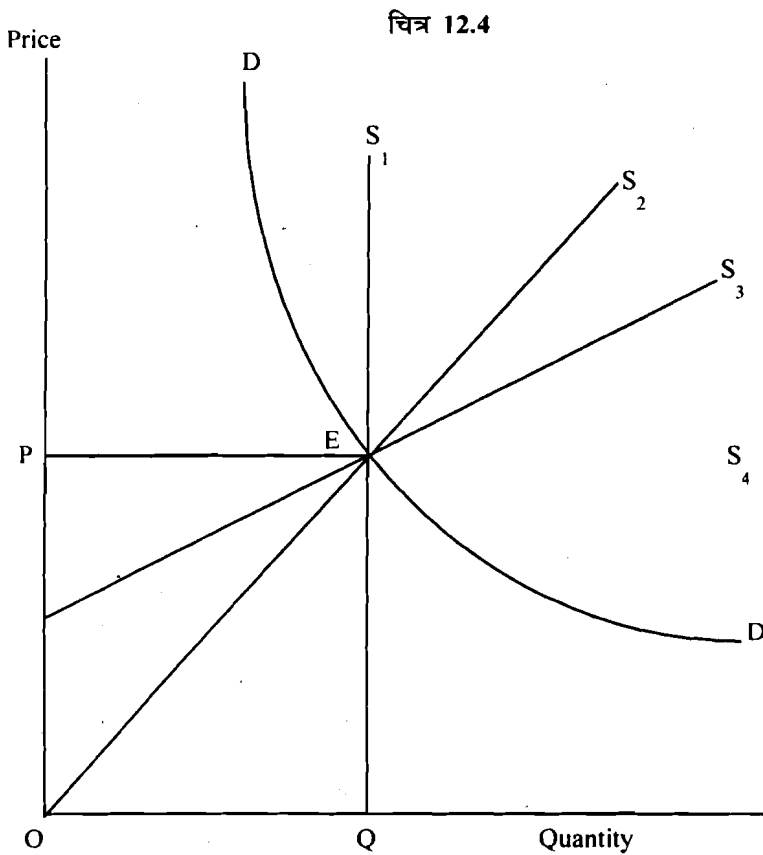
चित्र 12.3



चित्र 12.3 में सामान्य माँग और आपूर्ति-वक्रों के संयोग द्वारा कीमत निर्धारित की गई है। आपूर्ति-वक्र साधन कीमतों के उन न्यूनतम स्तरों को दिखाता है जिन पर विभिन्न साधन-स्वामी कार्य करने के इच्छुक हों। दूसरी ओर, माँग और आपूर्ति-वक्र के नीचे का क्षेत्र **OEQ** साधन की हस्तांतरण आय कहलाता है। अर्थात् वह न्यूनतम भुगतान जो कि साधन को वर्तमान रोज़गार में लगाए रखने के लिए आवश्यक है। दूसरी ओर, आपूर्ति-वक्र से ऊपर का क्षेत्रफल **OPE** आभास लगान का मान है। हस्तांतरण आय से अधिक यह भुगतान साधन इकाइयों को केवल इसी कारण मिल पाता है कि बाज़ार में उनकी सापेक्ष दुर्लभता होती है।

चित्र 12.3 इसी विचार को दर्शाता है। हमने भूमि के सामान्य माँग एवं आपूर्ति-वक्र बनाए हैं—ये वक्र किसी भी अन्य साधन की भी हो सकती है। बिन्दु E माँग एवं आपूर्ति-वक्र एक दूसरे को काटती है। अतः भूमि की सेवाएँ प्राप्त करने के इच्छुक OP कीमत पर OQ मात्रा लेने को तैयार होंगे। भू-स्वामी भी OP के मत पर OQ मात्रा ही प्रदान करना चाहते हैं। इसी से संतुलन बनता है। पर एक बात पर गौर करें। आपूर्ति-वक्र उन कीमतों को भी दर्शाता है जिनपर विभिन्न साधन इकाइयों कार्य करने को तत्पर होती हैं। यह उनकी न्यूनतम माँग कीमत है जिसके मिलने पर वे वर्तमान कार्य में ही लगे रहने को तैयार होती हैं। इसे ही हस्तांतरण आय TE का नाम दिया जाता है। इन साधन इकाइयों को (लगान के रूप में) साधन कीमत तो OP प्रति इकाई ही मिलती है पर हस्तांतरण आय से अधिक आमदनी तो सापेक्ष दुर्लभता का ही परिणाम है। इसे आभास लगान (quasi-rent) कहा जाता है।

हम आभास लगान के सापेक्ष दुर्लभता पर आश्रित होने के विचार को चित्र 12.4 द्वारा और अधिक स्पष्ट कर सकते हैं। यहाँ माँग-वक्र DD तो एक ही है पर चार आपूर्ति-वक्र S_1, S_2, S_3 और S_4 बनाए गए हैं। ये चारों वक्र माँग-वक्र को एक ही बिन्दु E पर काटते हैं।



चित्र 12.4 चार आपूर्ति-वक्र S_1, S_2, S_3 और S_4 दिखाता है। ये चारों माँग-वक्र को बिन्दु E पर करते हैं। अतः भूमि के सेवाएँ प्राप्त करने के लिए OP कीमत पर OQ मात्रा ही प्रदान की गई। इसी से संतुलन बनता है।

आपूर्ति-वक्र S_1 पूरी तरह लोचहीन है। अतः साधन को प्राप्त सारी आय ही लगान होगी। इसी को शुद्ध आर्थिक लगान कहा जाता है।

आपूर्ति-वक्र S_2 में कुछ लोचशीलता है। साधन आय का एक अच्छा खासा भाग अब हस्तांतरण आय बन जाता है। पर बहुत बड़ा अंश अब आभास लगान कहलाएगा। जैसे-जैसे हम आपूर्ति की दशाएँ सुधारते हैं। अर्थात् वक्र की लोच बढ़ती है, कुल साधन आय में से हस्तांतरण आय (TE)

का अंश बढ़ता जाता है और आभास लगान (QR) कम होता जाता है। जब आपूर्ति-वक्र पूर्णतः लोचशील होकर क्षैतिज अक्ष के समांतर हो जाती है तो आभास लगान शून्य हो जाता है। सारी साधन आय अब हस्तांतरण आय ही होती है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब मार्शल लगान को एक ही अतिरेक या आधिक्य के रूप में बताते थे तो उनका अभिप्रायः हस्तांतरण से अधिक राशि से ही होता था। इस प्रकार मार्शल का लगान का सिद्धांत रिकार्डो के सिद्धांत से बहुत ही भिन्न हो जाता है।

बोध प्रश्न 1

1) विस्तृत सीमा (extensive margin) की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) सघन सीमा (intensive margin) क्या है?

.....

.....

.....

.....

3) लगान की एक अतिरेक के रूप में व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

.....

4) आभास लगान की अवधारणा समझाएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

12.3 पूँजी की सेवाओं के लिए पारिश्रमिक प्रतिफल : ब्याज

पूँजी एक मानव निर्मित उत्पादन साधन है। मनुष्य प्रकृति द्वारा प्रदान उपहारों से ऐसे औजार-उपकरण बना लेता है जिनसे उसे अपनी मनवाँछित वस्तुओं का निर्माण करने में सहायता मिलती है। जो समय वह उपकरणों के निर्माण में लगाता है, उसी समय का प्रयोग कर वह कुछ न कुछ उपभोग योग्य सामग्री भी तैयार कर सकता था। अतः उपकरण बनाने की प्रक्रिया में वह उपभोग वस्तुओं के उत्पादन करने के अवसर खो लेता है। लेकिन भविष्य में जब वह इन उपकरणों का उपयोग उत्पादन के लिए करता है तो कम समय में अधिक उपभोग वस्तुओं का उत्पादन कर पाता है। पूँजी से श्रम की उत्पादितता बढ़ती है और इस प्रकार उत्पादन प्रक्रिया में सहायक होती है। इसीलिए इसे भी उत्पादन का साधन ही माना जाता है। हमने धीरे-धीरे पूँजी की अवधारणा का और विकास कर इसमें उत्पादन प्रक्रियाओं में सहायक सभी प्रकार की मशीनों, भवनों एवं सुविधाओं को भी सम्मिलित कर लिया है। यहाँ तक कि व्यवस्था के सुचारू रूप से कार्य करने के लिए आवश्यक धनराशि को भी हम कामचलाऊ पूँजी ही कहते हैं। इसमें कच्चे माल तथा विनिर्मित उत्पादन के कुछ भण्डार भी सम्मिलित होते हैं। कच्चे माल के भण्डार उत्पादन कार्य को सुचारू रूप से चलाने में सहायक होते हैं तो कुछ विनिर्मित वस्तुओं के भण्डार ग्राहकों को नियमित आपूर्ति सुनिश्चित करते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि यद्यपि प्रारंभ में पूँजी का विचार यंत्रों-उपकरणों से ही जुड़ा था पर अब तो इसमें उन यंत्रों की कार्य-स्थली (फैक्ट्री का भवन) तथा आवश्यक कच्चे माल; एवं उत्पादन भण्डार और धनराशि आदि वे सभी चीजें सम्मिलित हो गई हैं जिनसे व्यवसाय सुचारू रूप से चलता रहता है। पूँजी की सेवाओं के प्रतिफल को ब्याज कहा जाता है।

12.3.1 ब्याज की विभिन्न अवधारणाएँ

यह आप ऊपर जान ही चुके हैं कि पूँजी उस समय अस्तित्व में आती है जब कोई व्यक्ति उपभोग न करके बचत करता है। यह अपनी बचत का स्वयं प्रयोग कर सकता है अथवा किसी अन्य को इसके प्रयोग की अनुमति प्रदान कर सकता है। पर वह उस उपयोगकर्ता से यह अपेक्षा करता है कि उस सुविधा के बदले में उसे कुछ प्रतिदान अवश्य दें। इसी प्रतिदान को हम पूँजी का प्रतिफल अर्थात् ब्याज कहते हैं। यह प्रतिफल वस्तु रूप में भी हो सकता है। उदाहरण के लिए यदि किसान किसी पड़ोसी से कुछ अनाज उधार लेता है तो वह अपनी फसल की कटाई के बाद उससे कहीं अधिक मात्रा अनाज ही लौटा देता है।

अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में कुछ व्यक्ति अपनी चालू आय से अधिक व्यय करना चाहते हैं। वे उन लोगों से रुपया उधार ले लेते हैं जो अपनी सारी आय खर्च नहीं करना चाहते। उधार लेने वाले व्यक्ति कुछ समय तक उस राशि का प्रयोग कर उस मूलधन के साथ-साथ ही कुछ अतिरिक्त राशि भी ऋणदाता को लौटा देते हैं। यह अतिरिक्त राशि ही ब्याज है। ऋण या उधार की कीमत को प्रतिशत के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है तथा यह कीमत प्रयोग की समयावधि के साथ जुड़ी रहती है। सामान्यतः ब्याज दर प्रतिवर्ष बताई जाती है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि ब्याज दर 10 प्रतिशत प्रतिवर्ष है। इसका अर्थ है कि सौ रुपये उधार लेने वाला व्यक्ति एक वर्ष के अंतर पर 100+10 (100 का 10 प्रतिशत) राशि ऋणदाता को लौटाएगा। अतः यह ब्याज की राशि होगी 10 रुपये। ब्याज की दरों के कई प्रकार होते हैं— अर्थात् ब्याज की दर का आकलन कई तरह से किया जाता है उनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं :

साधारण एवं चक्रवर्ती ब्याज

जब कोई व्यक्ति धन की 'P' इकाइयों "n" समय के लिए r (प्रतिशत) ब्याज की दर पर उधार लेता

है तो I-अर्थात् ब्याज की राशि इन तीनों, अर्थात् n, r तथा P के मानों पर निर्भर करेगी। आपने अवश्य ही माध्यमिक विद्यालय स्तर पर ब्याज का आकलन कुछ इस प्रकार किया होगा :

यदि एक हजार रुपये की राशि वर्ष की अवधि के लिए 10 प्रतिशत की दर पर उधार ली गई हो तो ब्याज होगा :

$$\text{ब्याज} = \frac{\text{मूलधन} \times r \times n}{100} \text{ or } I = \frac{P \times r \times n}{100}$$

$$\frac{1000 \times 10 \times 1}{100} = 100 \text{ रुपये}$$

यदि ऋण 10 वर्ष के लिए लिया जाए तो ब्याज होगा :

$$\frac{1000 \times 10 \times 10}{100} = 1000 \text{ रुपये}$$

इस तरह से आकलित ब्याज को हम साधारण ब्याज कहते हैं।

कई बार, प्रत्येक लेखा अवधि के अंत पर देय ब्याज की राशि को मूलधन में जोड़ दिया जाता है। अगली अवधि के लिए मूलधन की राशि पिछले मूलधन और उस आकलित ब्याज का योगफल बन जाती है। इसप्रकार अगली लेखा अवधियों में पिछले ब्याज पर भी ब्याज लगना आरंभ हो जाता है। इसी को हम चक्रवर्ती ब्याज कहते हैं। अंतिम रूप से भुगतान की राशि A इस प्रकार ज्ञात की जाती है :

$$A = P \times (1+r)^n \text{ यहाँ } r \text{ ब्याज की प्रतिशत दर ही है।}$$

हम आपको यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि वास्तविक जीवन चक्रवर्ती ब्याज के उदाहरण मिलना दुर्लभ नहीं है— भारत में किसी भी बैंक में सामान्य बचत खाते को ही लीजिए। बैंक इस पर 5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से ब्याज देता है। पर, प्रत्येक छमाही के अंत पर ब्याज का आकलन कर उसे खाते में जमा राशि में जोड़ दिया जाता है। अतः यदि खाताधारी अपनी रकम बैंक से निकाल न ले तो अगली छमाही में पिछले जमा ब्याज पर भी उसी दर से ब्याज का आकलन होगा। अतः हम कह सकते हैं कि भारत में सामान्य बचत खातों पर पाँच प्रतिशत वार्षिक की दर से छमाही आधार पर जुड़ने वाला चक्रवर्ती ब्याज दिया जाता है।

ब्याज और मुद्रा

सामान्यतः लोग ब्याज के विचार को मौद्रिक लेन-देन के साथ जुड़ा हुआ मानते हैं पर वस्तु-विनिमय व्यवस्था में भी ब्याज का अस्तित्व रहा है। एक किसान का उदाहरण ही लीजिए जिसने अपने पड़ोसी से कुछ अनाज उधार लिया तथा फसल कटने पर उधार ली गई मात्रा से कुछ अधिक अनाज उसे लौटा दिया। यहाँ हम सामान्यतः तो उस अतिरिक्त अनाज को ब्याज ही मानेंगे। पर यह कहा जा सकता है कि किसान द्वारा लौटाई गई मात्रा का मूल्यांकन तो फसल की कटाई के समय प्रचलित कीमतों पर होना चाहिए। ये कीमतें जिस समय उधार ली गई थी, उसकी तुलना में कहीं कम होती है। इस प्रकार यदि उधार दी गई तथा लौटाई गई अनाज की मात्राओं का उनकी अपनी कीमतों पर मूल्यांकन किया जाए तो ब्याज की अवधारणा कुछ अस्पष्ट हो सकती है। किंतु किसी ऐसी अर्थव्यवस्था में जहाँ अभी मुद्रा का प्रचलन ही नहीं हुआ हो और इसी कारण वस्तु विनिमय द्वारा ही

समाज का सारा लेन-देन सम्पन्न होता हो, वहाँ अलग-अलग समय पर किसी वस्तु की बाज़ार कीमतों में अंतर की बात करना भी अटपटा सा ही प्रतीत होगा। मुद्रा का प्रयोग करने वाली अर्थव्यवस्थाओं में भी किसानों द्वारा किसी पड़ौसी से अनाज उधार लेकर फसल आने पर कुछ ज्यादा मात्रा लौटाना बहुत ही सामान्य की बात है। इसे अन्न के रूप में ब्याज की दर या अन्न ब्याज दर की संज्ञा दी जाती है।

एक अर्थशास्त्री विकसैल (Wicksell) ने इसी अन्न ब्याज दर से मिलती जुलती प्राकृतिक ब्याज की दर (natural rate of interest) का विचार हमें प्रदान किया है। उनका कथन कुछ इस प्रकार है : एक वन स्वामी कुछ वृक्षों को काटकर लकड़ी बेचकर प्राप्त राशि को ब्याज दर पर चढ़ा सकता है। विकल्पतः वह वृक्षों को एक वर्ष बढ़ने दे सकता है। इस दौरान वे वृक्ष कुछ और मोटे तथा लम्बे हो सकते हैं। अतः उनकी कटाई से प्राप्त लकड़ी की मात्रा भी अधिक होगी। अब इन्हें काटकर बेचने से प्राप्त राशि की पिछले वर्ष प्राप्त राशि से तुलना की जा सकती है। अगर इस अवधि में लकड़ी की कीमत स्थिर ही रहने दें तो वर्ष के अंत में प्राप्त अधिक धनराशि तथा शुरू में प्राप्त हो सकने वाली राशि का अंतर ही प्राकृतिक दर से अर्जित ब्याज कहलाएगी। यदि समाज में प्रचलित मौद्रिक ब्याज की दर इस दर के समान ही हो तो विकसैल के मतानुसार समाज में ब्याज की दर प्राकृतिक ब्याज दर होगी।

उधार पर तथा किश्तों में खरीददारी

कई बार हम अनेक उपकरणों की खरीद करते समय सारी कीमत एक साथ ही नहीं चुकाते। हम कई महीनों तक किश्तों का भुगतान करते हैं। पर इस तरह चुकाई गई सारी राशि वस्तु की मूल कीमत से कहीं अधिक होती है। यह अंतर एक प्रकार का ब्याज ही है। एक तरह से हम विक्रेता से रुपया उधार लेकर उसे वस्तु की कीमत अदा करते हैं।

आजकल तो विक्रेता किसी न किसी अन्य कम्पनी से टिकाऊ वस्तुओं के खरीदारों के लिए वित्त की सुविधा भी जुटा देते हैं। उदाहरण के लिए कितने ही ग्राहक जब किसी कंपनी से कार खरीदते हैं तो उस कंपनी को कीमत का भुगतान किसी बैंक से मिलता है। बाद में पूर्वनिर्धारित अवधि तक ग्राहक बैंक की किश्तें भरता रहता है।

मित्तिकाटा (Discount)

यह एक चालाकी भरा तरीका है। उधार लेने वाले से तय की गई दर से ब्याज अग्रिम रूप से ही ले लिया जाता है। उदाहरण : मान लीजिए कि ब्याज की दर 10 प्रतिशत तय की गई है। अब 100 रुपये उधार लेने वाले से ब्याज के दस रुपये पहले ही काटकर उसे 90 रुपये नकद दिए जाते हैं एक वर्ष बाद यह व्यक्ति 100 रुपये चुकाकर ऋण मुक्त हो जाता है। ऐसी कार्यविधि से ब्याज की प्रभावी दर अधिक हो जाती है। उधार लेने वाले को वास्तव में 90 रुपये ही मिले और उसने इन पर 10 रुपये ब्याज भरा। अतः उसने वास्तव में तो 11 प्रतिशत से अधिक ब्याज दिया, जबकि घोषित दर 10 प्रतिशत ही रही।

ब्याज की सपाट दर (Flat rate of interest)

आजकल वित्त कंपनियों के विज्ञापनों में ब्याज दर का एक अन्य ही स्वरूप दिखाई पड़ता है। ये कंपनियाँ ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए बहुत ही कम ब्याज दर का प्रचार करती हैं। इसे ही वे सपाट दर का नाम देती हैं। उनकी कार्य पद्धति कुछ इस प्रकार है :

ग्राहक 10 प्रतिशत सपाट ब्याज दर पर 100 रुपये उधार लेता है तथा वह राशि 10 समान वार्षिक किशतों में चुकाना तय करता है। वित्तदाता सारी राशि पर 10 प्रतिशत से 10 वर्ष का ब्याज आकलित कर उसे मूलधन में जोड़ देता है तथा इस योगफल को 10 से भाग देकर वार्षिक किशत का निर्धारण कर देता है। इस विधि में रहस्य की बात यही है कि प्रत्येक किशत के साथ मूलधन का भी एक अंश लौटा दिया जाता है। अतः उधार लेने वाला उस राशि पर भी ब्याज भरता रहता है जिसे वे पहले ही वापिस कर चुका होता है। इस प्रकार प्रभावी ब्याज दर विज्ञापित कम दर से कम से कम दोगुनी तो हो ही जाती है।

जोखिम तथा अनिश्चितता

सामान्य क्रय-विक्रय में तो विक्रेता को अपने माल की पूरी कीमत तुरंत मिल जाती है। पर रुपये के लेन-देन में ग्राहक ऋणदाता को रुपये लौटाने का वचन ही देता है। यहाँ दो प्रकार का जोखिम है:

- 1) **आय जोखिम** : हो सकता है ऋणी ब्याज न चुका पाए।
- 2) **पूँजी जोखिम** : हो सकता है कि ऋणी व्यक्ति मूल भी न लौटा पाए।

ये जोखिम ऋण की राशि, अवधि तथा ऋणी की विश्वसनीयता पर भी निर्भर करते हैं। कई बार तो जिस कार्य के लिए उधार दिया गया है, उस कार्य की प्रकृति भी अनिश्चितता एवं जोखिम का कारण बन सकती है। ऋणदाताओं द्वारा ऋण की जमानत के रूप में स्वर्ण या किसी अन्य अचल सम्पत्ति की माँग करना भी एक सामान्य सी ही बात है। यदि ऋणी भुगतान करने में असमर्थ रहे तो ऋणदाता जमानत के रूप में सम्पत्ति को बेचकर अपनी रकम की भरपाई करने का अधिकारी हो जाता है।

12.3.2 पूँजी, निवेश तथा ब्याज

हम सामान्यतः कहते हैं कि पूँजी की सेवाओं का प्रतिफल ही ब्याज है तो फिर प्रश्न उठता है कि ब्याज की दर में परिवर्तन का पूँजी की आपूर्ति पर किस प्रकार का प्रभाव पड़ेगा? इस प्रश्न से अनेक संभावनाएँ पैदा होती हैं। एक तो हमें किसी भी निश्चित समय बिंदु पर पूँजी के विद्यमान स्टॉक तथा उसकी और आपूर्ति करने का प्रयास में भेद समझना होगा। पूँजी की उपलब्धि को बढ़ाने के प्रयास को ही हम निवेश अथवा पूँजी निर्माण कहते हैं। यह निवेश मूलतः एक प्रवाह है। यदि किसी अर्थव्यवस्था में और अधिक पूँजी निर्माण हो रहा हो तो हम कहेंगे कि यह अर्थव्यवस्था अपने पूँजी भण्डार (स्टॉक) में वृद्धि कर रही है। ब्याज की दर पूँजी निर्माण अथवा निवेश के माध्यम से पूँजी की आपूर्ति में वृद्धि को किस प्रकार प्रभावित करती है? आइए एक उदाहरण की सहायता से इसे समझने का प्रयास करें :

उदाहरण : निवेश तथा ब्याज की दर में संबंध

इस व्यवसाय प्रस्ताव पर गौर करिए : आप एक लाख रुपये लगाकर एक मशीन खरीदते हैं। मान लीजिए कि इस मशीन से प्रतिवर्ष दस हजार रुपये की आय हो सकती है। पर दस वर्ष के पश्चात् यह मशीन कबाड़ में बेचनी पड़ेगी। यह कबाड़ी मूल्य भी 10,000 रुपये ही हैं। तो हम कह सकते हैं :

मशीन की वर्तमान लागत = 100,000 रुपये

दस वर्षों तक आय प्रवाह = 10,000 + 10,000 + = 100,000 रुपये

घिसी-पिटी मशीन का कबाड़ी मूल्य 10,000 रुपये।

अतः कुल आगम = 110,000 रुपये।

हमारा प्रश्न है कि क्या निवेश किया जाना चाहिए? क्या इस मशीन की खरीददारी व्यावसायिक दृष्टि से उचित होगी? कुछ प्रश्न भी यहाँ उठ खड़े हुए हैं :

क्या हम भविष्य में पैदा होने वाली आयों को सीधे ही एक साथ जोड़ सकते हैं? क्या यह कहा जा सकता है कि अगले वर्ष के अंत पर 10,000 रुपये मिलने की संभावना और आज ही 10,000 रुपये की नकद राशि में कोई अंतर नहीं है? हमारा उत्तर 'हाँ' में तो नहीं ही होगा। पर ऐसा क्यों होता है? यदि आज हम 10,000 रुपये उधार दें तो एक वर्ष बाद कुल राशि दस हजार से तो कुछ न कुछ अधिक ही हो जाएगी। दूसरे वर्ष के अंत तक कुल राशि और अधिक हो जाएगी तथा जैसे-जैसे वर्ष बीतेंगे यह राशि बढ़ती ही रहेगी। हम चक्रवर्ती ब्याज का सूत्र तो जानते ही हैं। उसकी सहायता से हम भविष्य में होने वाली आय का मूल्य ज्ञात कर सकते हैं।

मान लीजिए कि हम वर्ष 1997 में निवेश करते हैं। पहला आय प्रवाह सृजन 1998 में ही संभव हो जाता है। अतः यह जानना होगा कि 1998 में मिलने वाले 10,000 रुपयों का 1997 में वास्तविक महत्त्व या मूल्यमान क्या होगा। चक्रवर्ती ब्याज सूत्र के अनुसार :

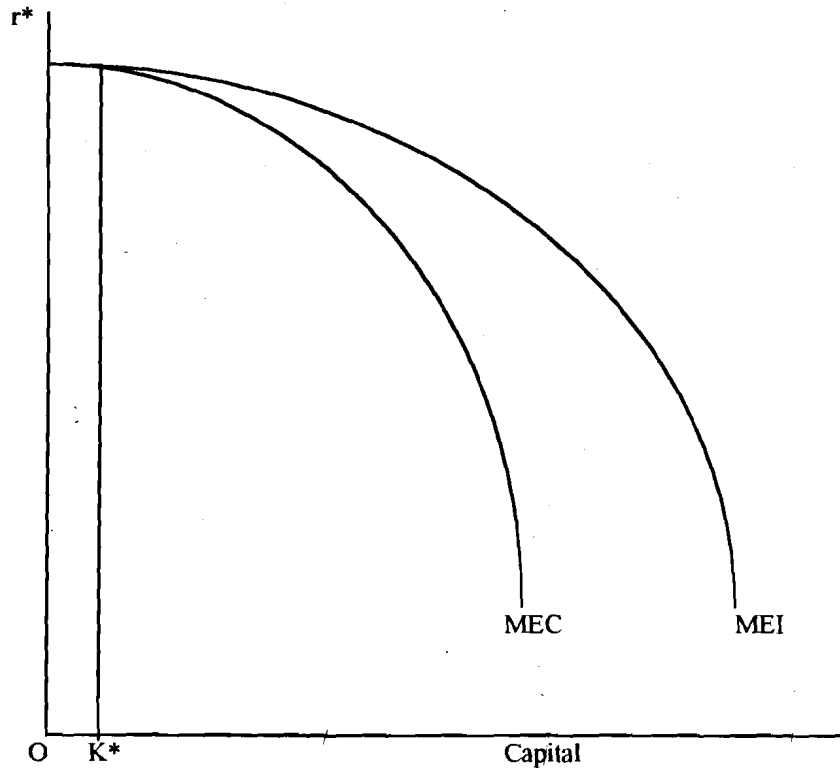
$$10,000 = (1+r) P$$

जहाँ कि P वह राशि होगी जो एक वर्ष में r प्रतिशत ब्याज की दर से बढ़कर 10,000 रुपये हो जाएगी। अतः 1998 में प्राप्य 10,000 रुपयों को वर्ष 1997 में मूल्यमान होगा $10,000 (1+r)$ । इसी तरह से वर्ष 1999 के आय प्रवाह को दो बार, तथा वर्ष 2000 के प्रवाह को तीन बार मितिकाटा (डिस्कॉन्ट) किया जाएगा। इस प्रकार प्राप्त की गई राशियों का योग करके पूरी परियोजना का वर्तमान मूल्य (PV) ज्ञात हो जाता है :

$$PV = \frac{10000}{(1+r)} + \frac{10000}{(1+r)^2} + \frac{10000}{(1+r)^3} + \dots + \frac{10000}{(1+r)^{10}} + \frac{10000}{(1+r)^{10}}$$

ध्यान दें कि अंतिम दोनों राशियाँ एक समान हैं। वस्तुतः 10 वर्ष की अवधि समाप्त होने पर मशीन के कबाड़ी मूल्य को भी एक अतिरिक्त आगम के समान मानकर उसी प्रकार इस योगफल में सम्मिलित किया गया है।

इस वर्तमान मूल्य की ही वर्तमान लागत अर्थात् एक लाख रुपये से तुलना करना तर्क संगत होगा। उसी तुलना के आधार पर यह निश्चित हो सकता है कि यह परियोजना में हाथ लेने योग्य है या नहीं। यदि हम PV के उपर्युक्त सूत्र में 'r' का मान बढ़ा दें तो दाहिनी ओर की प्रत्येक राशि का मान कम हो जाएगा। अतः उनका योगफल भी कम रह जाएगा। इसके विपरीत 'r' का मान कम करने पर सभी राशियों तथा उसके परिणामस्वरूप वर्तमान मूल्य में वृद्धि होगी। अतः परियोजना की वर्तमान लागत (PC) तथा संभावित आय प्रवाह ज्ञात होने के बाद वास्तविक निवेश निर्णय इस बात पर निर्भर करेगा कि ब्याज की दर 'r' कितनी है। यदि प्रारंभ में $PV=PC$, तो हम कह सकते हैं कि यह परियोजना हाथ में ली जा सकती है। ब्याज की दर में कमी इस परियोजना को और आकर्षक या लाभप्रद बना सकती है। दूसरी ओर ब्याज दर बढ़ने पर यह परियोजना भी घाटे का सौदा बन सकती है। अतः हम कह सकते हैं कि निवेश ब्याज की दर पर निर्भर करता है। जब कोई व्यक्ति निवेश करता है तो उसे उस निवेश से कुछ प्रतिफल की आशा होती है। किंतु समय के साथ-साथ और ज्यादा निवेश होने पर यह प्रतिफल बदल सकता है। ऐसी स्थिति को हम चित्र 15.5 में दर्शा रहे हैं :



चित्र 12.5 पूँजी का प्रारम्भिक स्टॉक K^* है जिस पर प्रतिफल की दर r^* है। इससे प्रेरित होकर व्यवसायी निवेश करते हैं। पर निवेश के कारण पूँजी भण्डार में वृद्धि होती है। इससे, अन्य साधनों के स्थिर रहने पर, पूँजी की सीमांत उत्पादित गिरने लगती है। इस प्रकार पूँजी की सीमांत कुशलता (MEC) गिरने लगती है। इसके गिरने का मूल कारण निवेश ही है। अतः हम कहते हैं कि निवेश की सीमांत कुशलता (MEI) हासमान होती है।

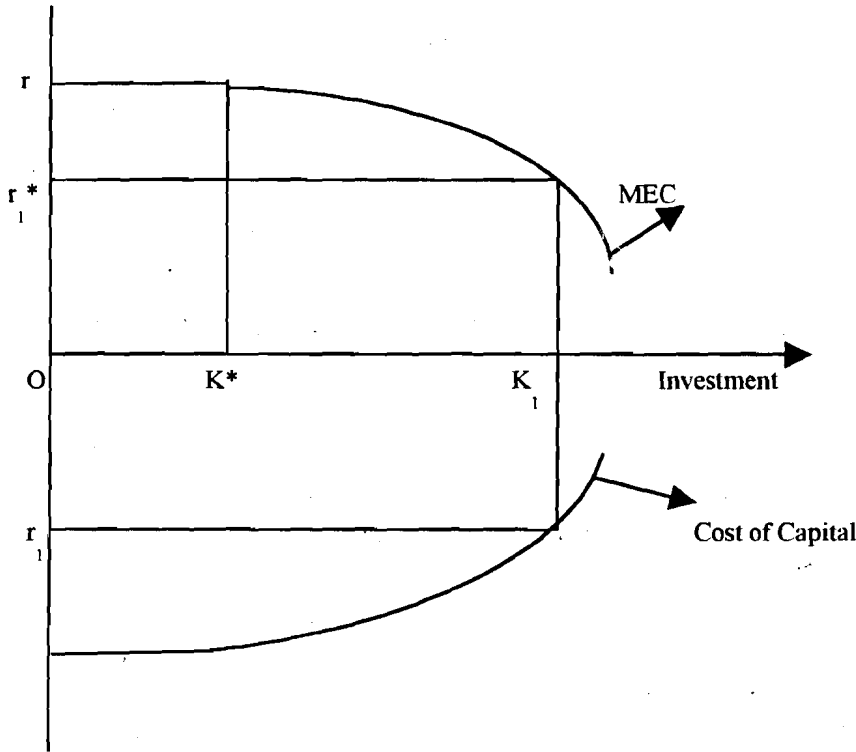
जब तक पूँजी का स्टॉक K^* रहता है, उत्पादक आय दर 'r' होती है। यदि यह दर अधिक निवेश करने के लिए प्रेरणा प्रदान करें तो क्या होगा? अतिरिक्त निवेश के कारण पूँजी का स्टॉक बढ़ जाएगा। जैसे-जैसे पूँजी भण्डार बढ़ेगा, नई पूँजी का प्रयोग बढ़ाने से इसकी सीमांत उत्पादित में गिरावट शुरू हो जाती है। इसी को पूँजी की हासमान सीमांत कुशलता (MEC) का नाम दिया जाता है। जैसे ही निवेश पूँजी के स्टॉक को K^* से आगे बढ़ाता है, MEC में गिरावट आने लगती है। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि पूँजी के स्टॉक में वृद्धि होने पर निवेश की अतिरिक्त आय सृजन में कुशलता या निवेश की सीमांत दक्षता (MEC) कम होने लगती है।

अब हमारे निवेशक को एक समस्या का सामना करना पड़ता है। यह जानता है कि पूँजी पर किसी दर विशेष से प्रतिफल मिल रहा है। यदि वह और निवेश करता है तो पूँजी की मात्रा बढ़ जाती है और प्रतिफल की दर गिरने लगती है। अतः वह अपने निवेश निर्णय में प्रतिफल की गिरती हुई दर तथा बाज़ार में पूँजी की लागत की तुलना करने को बाध्य हो जाता है। यह लागत वस्तुतः निवेश की अवसर लागत ही होती है। अतः वह पूँजी पर प्रतिफल की दर को बाज़ार में प्रचलित ब्याज की दर के समान करने का प्रयास करेगा। वह उसी सीमा तक निवेश करेगा। जब तक कि निवेश पर प्रतिफल की दर बाज़ार की ब्याज दर से कम होने की संभावना नहीं हो अर्थात् यदि प्रतिफल दर r^* हो तथा बाज़ार ब्याज दर r हो तो निवेश तभी तक जारी रहेगा जब तक कि $r^* \geq r$ ।

उपर्युक्त विचारों की कुछ भिन्न व्याख्या भी संभव है। पूँजी की सीमांत दक्षता (MEC) को ही आंतरिक प्रतिफल दर (internal rate of Return) यानि IRR का नाम भी दिया जाता है। अतः निवेश तभी तक जारी रहता है जब तक कि $IRR > r$ जहाँ r बाज़ार में प्रचलित ब्याज दर है।

हम MEI वक्र को पूँजी की माँग फलन भी कह सकते हैं। पूँजी की आपूर्ति-वक्र निवेश की अवसर लागत-वक्र ही होगी। अतः यह आपूर्ति-वक्र हमारी MEI की ही दर्पण प्रतिछवि मात्र होगी। बाज़ार में संतुलन वहीं होगा जहाँ MEI पूँजी की लागत के समान हो। चित्र 12.6 में हम बाज़ार का ऐसा ही संतुलन दिखा रहे हैं।

चित्र 12.6



चित्र 12.6 के ऊपरी भाग में हमने MEI वक्र को दिखाया है। ध्यान दें कि यह वक्र K^* पूँजी स्तर से आगे ही ढलवाँ होता है, और उस बिंदु पर पूँजी पर प्रतिफल की दर r^* है। जैसे-जैसे निवेश के कारण पूँजी का स्टॉक K^* से आगे बढ़ता है, MEI कम होने लगती है। चित्र के निचले भाग में हमने पूँजी की लागत-वक्र दिखाई है। यह निवेश की अवसर लागत-वक्र है तथा वस्तुतः MEI वक्र की ही दर्पण प्रतिछवि मात्र है। बाज़ार का संतुलन K_1 जैसे किसी बिंदु पर दर्शाया जा सकता है जहाँ IRR यानि r_1^* यानि बाज़ार में प्रचलित ब्याज दर r_1 के समान होता है। ऐसी स्थिति में निवेश का आकार $OK_1 - OK^*$ होगा।

निवेश के कारण पूँजी का स्टॉक K^* से बढ़कर K_1 हो जाता है अर्थात् निवेश = $OK_1 - OK^*$ । चित्र के निचले भाग में पूँजी की लागत-वक्र है। संतुलन की स्थिति में बाज़ार की ब्याज की दर है तथा r_1^* निवेश के इस स्तर (K^*K_1) पर आंतरिक प्रतिफल दर (IRR) है।

12.3.3 वास्तविक तथा मौद्रिक ब्याज दर

अभी हमें एक और समस्या का हल ढूँढना है। आपने अपने किसी मित्र को कुछ राशि पाँच-वर्ष के लिए उधार दी। उसने ठीक समय पर ब्याज सहित सारी रकम लौटा दी। पर बीच में कीमतों का स्तर यदि बहुत ऊँचा उठ गया तो आपकी उस राशि की क्रय-शक्ति के विषय में क्या प्रतिक्रिया होगी? आइए इस उदाहरण को स्पष्ट करें। आपने अपने मित्र को 10,000/- रुपये उधार दिए। उसने 5 प्रतिशत ब्याज सहित वह राशी 5 वर्ष बाद लौटाने का वचन दिया। पर उस अवधि में कीमतें 12 प्रतिशत वार्षिक की दर से बढ़ती रही। अतः मित्र से भुगतान प्राप्ति के बाद की स्थिति कुछ इस प्रकार होगी :

आपको कुल राशि मिली $10,000 + 2500 = 12,500$ रुपये। पर इसी अवधि में 12 प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़कर कीमतें तो दुगुनी हो जाती हैं। आप पाते हो कि अब 12,500 रुपयों से भी आप उतनी वस्तुएँ नहीं खरीद सकते, जिसे पाँच वर्ष पूर्व केवल 10,000 रुपयों में पा सकते थे वस्तुतः अब आपको उतनी ही मात्रा में वस्तुओं को खरीदने के लिए 20,000/- रुपयों की आवश्यकता होगी।

अतः ये 5 प्रतिशत ब्याज की दर आपकी क्रय-शक्ति में कमी की क्षतिपूर्ति नहीं कर पाती। ऐसी ब्याज दर सांकेतिक ब्याज दर (**nominal rate of interest**) कहलाती है। पाँच वर्ष की प्रतीक्षा की भरपाई तो तभी होगी जब आप कीमत वृद्धि दर से अधिक ब्याज वसूल सकें। अतः मुद्रा स्फीति दर से ऊँची ब्याज दर ही वास्तविक ब्याज दर कहलाएगी। हमारे इस उदाहरण में 5 प्रतिशत वार्षिक वास्तविक ब्याज दर का अर्थ होगा कि इस 17 प्रतिशत वार्षिक सांकेतिक ब्याज दर की वसूली करें।

बोध प्रश्न 2

1) साधारण ब्याज की दर क्या होती है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) चक्रवर्ती ब्याज की दर का विचार समझाइए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) निवेश की सीमांत कुशलता की अवधारणा समझाइए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) वर्तमान मूल्य की अवधारणा की व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

.....

5) मितिकाटा (discount) दर क्या होती है?

.....

.....

.....

.....

.....

6) वास्तविक तथा सांकेतिक ब्याज की दरों में भेद समझाइए।

.....

.....

.....

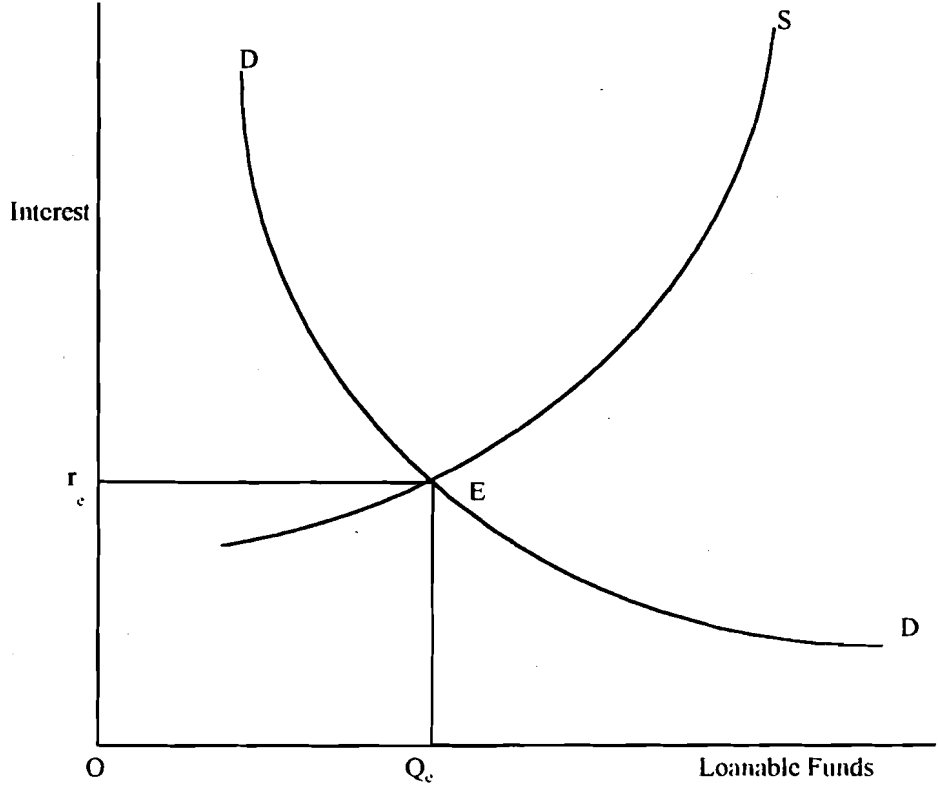
.....

.....

12.3.4 ब्याज संबंधी सिद्धांत या अवधारणाएँ

ब्याज की दर के निर्धारण से जुड़े अनेक सिद्धांत हैं। ये सभी अलग-अलग चरों के आधार पर ब्याज के निर्धारण की व्याख्या करते हैं।

क) ऋणयोग्य निधि सिद्धांत (**Loanable Funds Theory**) : इस अवधारणा में ऋण की माँग तथा ऋण योग्य निधि द्वारा उस दर का निर्धारण होता है जिस पर लेन-देन होता है। किसी भी समय में कुछ व्यक्ति अपनी तात्कालिक आय के कम व्यय करना चाहते होंगे तो कुछ व्यक्ति आय से अधिक व्यय करने के इच्छुक होंगे। इनमें से प्रथम वर्ग को ऋण योग्य निधि का स्रोत माना जा सकता है तो दूसरा वर्ग इस ऋण योग्य निधि का माँगकर्ता होगा। जहाँ इनकी माँग एवं आपूर्ति-वक्र एक-दूसरे को काटती है, वहीं ब्याज की दर का निर्धारण होता है। इसी स्थिति को चित्र 12.7 में दर्शाया गया है। यहाँ r_e ब्याज दर पर Q_e राशि का लेन-देन होता है।



चित्र 12.7 : ऋण चाहने वाले व्यक्ति कम ब्याज दर पर अधिक तथा उच्च दर पर कम राशि उधार लेना चाहेंगे। दूसरी ओर ऋणदाता का व्यवहार इसके विपरीत होगा। वह उच्च ब्याज दर पर अधिक राशि उधार देगा। पर निम्न दर पर कम राशि देने को तैयार होगा। इस तरह से हमें ऋण योग्य निधियों के लिए सामान्य माँग एवं आपूर्ति-वक्र प्राप्त होते हैं। अर्थात्, माँग-वक्र दाहिनी और ढलवाँ होता है और पूर्ति-वक्र उठता हुआ। ये दोनों E बिंदु पर काटते हैं। अतः बाज़ार में संतुलन की स्थिति का निर्धारण हो जाता है— r_e ब्याज दर पर OQ_e धनराशि का लेन-देन होता है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि उधार की माँग इन तीनों में से किसी भी कारण से पैदा हो सकती है :

i) निवेश माँग, (ii) उपभोग माँग, तथा (iii) विनियम माँग।

यह संभावना काफी अधिक होती है कि ये माँग का ही मिश्रित स्वरूप हो।

इसी प्रकार ऋण योग्य निधि की आपूर्ति भी तीन प्रकार के स्रोत हो सकते हैं : नई बचतें, पुरानी बचतों का विनिवेश तथा नई मुद्रा का सृजन (सामान्यतः साख निर्माण) होना।

ख) तरलता-अभियान सिद्धांत (Liquidity Preference Theory) : इस विषय में इकाई 16 में मुद्रा बाज़ार के संतुलन के अंतर्गत इस सिद्धांत पर विशेष चर्चा की गई है। यह सिद्धांत केन्ज़ की देन है। उन्होंने मुद्रा की माँग तथा ब्याज की दर को समाज के आय के स्तर के साथ जोड़ने का प्रयास किया। उनकी नकदी की माँग किसी भी आय स्तर पर सामान्य लेन-देन, पूर्वोपाय या फिर सट्टेबाजी के उद्देश्यों से प्रेरित हो सकती है। किंतु उन्होंने मुद्रा की आपूर्ति को एक नीति-अस्त्र के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार ब्याज की दर का निर्धारण माँग फलन और सदी गयी मुद्रा आपूर्ति द्वारा निर्धारित होता है।

- ग) **समय सिद्धांत (Time Preference Theory)** : इस सिद्धांत का सूत्रपात इर्विंग फिशर (Irving Fisher) ने किया। उनका विचार था कि उपभोक्ता वर्तमान एवं भविष्य में संभव उपभोग स्तरों की तुलना करता है। जिस दर पर भविष्य का उपभोग वर्तमान उपभोग का स्थान ले सके उसे वर्तमान एवं संभावी उपभोग की सीमांत प्रतिस्थापन दर कहा जाएगा। इसी को काल अधिमान दर का नाम भी दिया गया है। यह दर वर्तमान एवं संभावी उपभोग के बीच अधिमान वक्र के ढाल (slope of indifference curve) के समान ही होगी।

बोध प्रश्न 3

- 1) ऋण योग्य निधि सिद्धांत की व्याख्या करें। (शब्द सीमा 50)

.....

.....

.....

.....

.....

- 2) समय अधिमान सिद्धांत समझाइए। (शब्द सीमा 50)

.....

.....

.....

.....

.....

12.4 उद्यम वृत्ति का पुरस्कार : लाभ

कुछ आधारभूत अवधारणाएँ

हम उद्यमवृत्ति को चौथा उत्पादन साधन मानते हैं। एक उद्यमी ही भूमि, पूँजी एवं श्रम को एक साथ काम पर जुटाता है। इसीसे उत्पादन संभव हो पाता है। यही तथ्य उत्पादन प्रक्रिया में उद्यमी की भूमिका एवं महत्त्व को स्पष्ट कर देता है। यदि वह अन्य साधनों को इकट्ठा नहीं करता तो उत्पादन संभव ही नहीं हो पाएगा। पूँजीवादी व्यवस्था में तो लाभ की संभावना ही इस बात की कसौटी बन जाती है कि किसी कार्य को किया जाएगा, या नहीं। यहाँ तक कि गैर-पूँजीवादी व्यवस्थाओं में भी लाभ किसी फर्म की कुशलता, नवीन प्रयोग या तकनीकी परिवर्तन की कुशलता की परख के लिए एक प्रकार का मानक बन सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि यदि कोई फर्म अपने ही जैसी अन्य फर्मों की तुलना में अधिक लाभ कमाती हो तो उसे अधिक कुशल माना ही जाएगा। या फिर कहेंगे कि वह संसाधनों का बेहतर प्रयोग कर रही है अथवा वह बेहतर तकनीकों को इस्तेमाल कर रही है। किंतु बेहतर तकनीकों के प्रयोग आदि में कुछ न कुछ जोखिम भी होती ही है। इसीलिए हम लाभ को अनिश्चितता एवं जोखिम के साथ भी जुड़ा हुआ पाते हैं। विश्लेषण को अधिक व्यापक बनाने की दृष्टि से हम उद्यमी के कार्यों को दो वर्गों में बाँटते हैं :

क) **संगठन** : इससे अभिप्राय व्यावसायिक संस्थान की गतिविधियों के संचालन से है। इसी को प्रबंधन भी कहते हैं। आज कल तो अधिकतर कंपनियों का प्रबंध कार्य व्यावसायिक प्रबंधक ही करते हैं जिन्हें वेतन एवं भत्ते-सुविधाएँ आदि दिए जाते हैं। इस तरह से उद्यमी का एक अंश तो श्रम के समान ही हो जाता है।

ख) **जोखिम उठाना** : प्रत्येक व्यवसाय में बाज़ार में असफलता का कुछ न कुछ खतरा तो रहता ही है। इस जोखिम के कारण बाज़ार की अनिश्चितताओं, प्राकृतिक आपदाओं तथा राजनीतिक घटना-चक्र आदि में खोजे जा सकते हैं। यदि व्यवसाय असफल रहती है तो उद्यमी अपने निवेश का काफी भाग खो देता है। इस प्रकार हानि की जोखिम सदैव बनी रहता है। फिर, नए उत्पादन बाज़ार में लाने, या नई उत्पादक तकनीकों का प्रयोग करने आदि में तो असफलता की जोखिम और भी बढ़ जाती है। अतः इन कार्यों में यदि प्रतिफल अधिक नहीं हुआ तो फिर इन्हें करने को कोई भी तैयार नहीं होगा।

इसीलिए कहा जाता है कि लाभ तो जोखिम उठाने का ही प्रतिफल है।

12.4.1 लेखा-लाभ तथा आर्थिक लाभ

एक लेखाकार वर्ष भर में कुल आगम तथा मूल्यहास सहित सभी लागतों के अंतर को लाभ कहता है। इन लागतों में कच्चे माल, ईंधन, मज़दूरी, वेतन, भाड़ा, बीमा तथा ब्याज आदि के निमित्त किए गए सभी भुगतान सम्मिलित होते हैं। पूँजी की घिसावट का प्रावधान ही मूल्य-हास कहा जाता है। अतः लेखाकार इन सभी खर्चों को पूरा करने के बाद जो कुछ बच रहता है, उसी आधिक्य को लाभ मानते हैं।

किंतु इस प्रकार के लेखांकन में कुछ निहित लागतें प्रायः छूट जाती हैं। एक तो अपने व्यवसाय में स्वयं कार्यरत व्यापारी को वेतन दिया जाए या नहीं। सामान्यतः कंपनियाँ धीरे-धीरे अपने पास अच्छी खासी रकम (बचाकर) संग्रहित कर लेती हैं और उसे अपने व्यापार कार्य में प्रयोग करती हैं। उस रकम पर ब्याज क्या लागत में जुड़ना चाहिए? परंतु आर्थिक दृष्टि से लाभ का आकलन इन निहित लागतों को भी ध्यान में रखकर ही किया जाता है। अतः आर्थिक लाभ के आँकड़े हम लेखा लाभ में से सभी निहित लागतों को घटाकर ज्ञात करते हैं।

12.4.2 लाभ के सिद्धांत

अर्थशास्त्रियों ने समय-समय पर लाभ के अनेक सिद्धांत विकसित किए हैं। शुम्पीटर ने लाभ का मुख्य आधार नवीन प्रक्रियाओं (innovation) के व्यवहारिक प्रयोग को माना, तो फ्रैंक नाइट ने अनिश्चितता को लाभ का मुख्य स्रोत माना।

क) **लाभ : नए प्रवर्तन (innovations) का पुरस्कार** : शुम्पीटर (Schumpeter) का विचार है कि लाभ तो एक गतिशील अर्थव्यवस्था में ही पैदा होते हैं। उन्होंने ऐसे पाँच प्रकार के परिवर्तनों की पहचान की जो आर्थिक विकास लाते हैं और समान को गतिशील बनाते हैं : ये परिवर्तन हैं :

- i) नए उत्पादनों को बाज़ार में लाना
- ii) उत्पादन की नई तकनीकों को प्रयोग करना
- iii) नए कच्चे माल की खोज
- iv) नए बाज़ारों की पहचान तथा
- v) संगठन के नए स्वरूपों का विकास।

नई-नई बातों का व्यवसाय में प्रयोग में लाना नव प्रवर्तन कहलाता है। यह आवश्यक नहीं है कि एक नव प्रवर्तक आविष्कारक भी हो। लेकिन वह अवश्य ही किसी आविष्कार का प्रयोग उत्पाद-फलन अर्थात् आगतों और उत्पादन के संबंध को बदलने के लिए करता है। यह नव प्रवर्तन उत्पादन की नई तकनीक का रूप ले सकता है, नए-नए बाजारों तक पहुँच, या फिर विपणन से संबंधित कोई गतिविधि।

शुम्पीटर का मत है कि जो कोई नव प्रवर्तन करता है उसे अधिक लाभ भी मिलता है और वह (उससे) उत्साहित होकर और आगे नव प्रवर्तन के प्रयास करता है। पर शीघ्र ही उसके नव प्रवर्तनों की नकल होनी चालू हो जाएगी। अन्य व्यवसायी भी इन्हें अपनाने लगेंगे। अब उसे व्यवसाय में आगे-आगे रहने के लिए और प्रयास करना होगा। अतः नव प्रवर्तन से लाभ होता है और लाभ एक प्रेरणा के रूप में नव प्रवर्तन को संभव बनाता है।

ख) **अनिश्चितता एवं लाभ** : फ्रैंक नाइट (Frank Knight) ने लाभ को विक्रय मूल्य एवं लागत का अंतर माना। यहाँ लाभ एक अवशिष्ट है। विक्रय मूल्य तथा लागतें अनेक कारकों पर निर्भर करते हैं। इनमें से कुछ को जोखिम में भी सम्मिलित माना जा सकता है। ऐसी जोखिमों का पूर्वानुमान संभव है तथा इनके लिए लागतों की संरचना में ही प्रावधान किया जा सकता है। सभी पूर्वानुमान्य जोखिमों का बीमा भी संभव होता है। कंपनी एक उपयुक्त बीमा पॉलिसी लेकर ऐसी जोखिमों के प्रति आश्वस्त हो सकती है। बीमे की किश्त की राशि लागतों में जुड़ जाती है। इन प्रकार के जोखिमों का पूरी तरह पूर्वानुमान लगाया जा सकता है तथा उनके लिए पहले ही प्रावधान हो सकता है। ऐसे में उत्पादन करना पूर्णतया निश्चित दशाओं में उत्पादन करने के समान ही है।

परंतु नाइट तो अनिश्चितता के एक और ही पहलु की ओर इंगित करते हैं। उनका कहना है कि उत्पादक उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की आवश्यकताओं और पंसदों का पूर्वानुमान लगाने में निरंतर लगा रहता है। यह आवश्यक भी है, तभी तो वह समय रहते उन वस्तुओं के उत्पादन की व्यवस्था कर पाएगा जिनसे उन आवश्यकताओं की पूर्ति संभव होगी। इसका मुख्य कारण यही है कि माँ के पूर्वानुमान, उत्पादन तथा वस्तुओं को उपभोक्ता तक पहुँचाने के बीच कुछ न कुछ वक्त तो लगता ही है। इन सबके परिणाम क्या होंगे इसमें एक निश्चितता आ जाती है। साथ-साथ यह भी संभव है कि व्यवसाय के प्रबंधक कुछ गलती कर बैठें। यहाँ उसे उत्पादन साधनों की आय को बाजार के उतार-चढ़ाव से बचाकर रखने से जुड़ी अनिश्चितता एवं जोखिम का वहन भी करना पड़ता है। इस तरह से उद्यमी की आय के दो भाग हो सकते हैं : एक तो अनुबांधिक वेतन मजदूरी तथा दूसरा एक अतिरेक, जो कि बाजार की दशाओं के साथ-साथ घटता-बढ़ता रहता है। कुछ अर्थशास्त्री इस दूसरे अंश को ही लाभ मानते हैं। अतः हम देखते हैं कि लाभ अन्य साधन प्रतिफलों से भिन्न है। मजदूरी ब्याज तथा भाड़ा आदि की दरों को पहले से ही तय किया जा सकता है पर लाभ को पहले ही निश्चित कर लेना संभव ही नहीं है। अनिश्चितता के कारण आगम तथा लागतों में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। ये उतार-चढ़ाव परस्पर संतुलित नहीं हो पाते। इससे अंततः सभी पूर्वानुबंधित भुगतान दायित्वों की पूर्ति के बाद जो कुछ बच रहता है, उसी को लाभ कहा जाता है।

ग) **लाभ तथा बाजार की संरचना** : कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि लाभ अंततः बाजार की अपूर्णताओं के कारण ही पैदा होता है। यदि पूर्ण प्रतियोगिता हर ओर व्याप्त हो तो किसी भी वस्तु का प्रत्येक उत्पादक एक जैसी तकनीक का प्रयोग करेगा, उसे उत्पादन, लागत तथा बाजार की दशाओं की पूर्ण जानकारी होगी। ऐसी व्यवस्था में सभी उत्पादक न्यूनतम संभव लागत स्तर पर ही उत्पादन करेंगे। वे सभी बाजार कीमत पर ही अपना उत्पादन बेचेंगे। लागतों और आगम के सभी निर्धारक तत्त्व सभी को पूरी तरह ज्ञात होंगे। अतः उद्यम वृत्ति तो केवल

व्यवसाय की देखभाल मात्र ही रह जाती है। अतः लाभ का स्तर भी इस देखभाल के लिए न्यूनतम आवश्यक प्रतिफल तक ही सीमित रहना चाहिए।

किंतु यदि बाज़ार में पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव हो तो फिर प्रत्येक फर्म इस प्रकार कीमत निर्धारित करती है कि उसका अपना हित अधिक से अधिक पूरा हो और जिससे उसका अतिरेक बढ़े। इसमें पूर्ण प्रतियोगिता की खुली जानकारी की शर्त का उल्लंघन भी हो सकता है। फर्म अपने नव प्रवर्तन को प्रतियोगियों से छुपाकर रखने का प्रयास कर सकती है। जब तक यह प्रयास सफल रहता है; वह अधिक लाभ भी कमा सकती है।

ए.पी. लर्नर (A.P. Lerner) ने लाभ पर एकाधिकारी शक्ति के प्रभाव को मापने का प्रयास किया है। हम जानते हैं कि किसी भी फर्म के संतुलन की आवश्यक शर्त सीमांत लागत और सीमांत आगम की समानता है। पूर्ण प्रतियोगिता में तो औसत आगम भी सीमांत आगम के समान होती है। जब बाज़ार पूर्ण प्रतियोगिता से दूर होने लगता है तभी औसत आगम (कीमत) भी सीमांत आगम तो दूर होने लगती है। अतः कीमत एवं सीमांत आगम (=सीमांत लागत) का अंतर, अर्थात् $P-MR$ (अथवा $P-MC$) बाज़ार पर फर्म के नियंत्रण का माप बन जाता है। इसी को कीमत के अनुपात के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। अतः एकाधिकार स्तर $= (P-MC)/P$ । यह अनुपात जितना अधिक होगा, फर्म उतना ही अधिक लाभ कमाएगी।

बोध प्रश्न 4

1) किसी उद्यमी के मुख्य कार्य क्या हैं ?

.....

.....

.....

.....

.....

2) पूर्ण प्रतियोगिता में लाभ 'न्यूनतम' अथवा सामान्य क्यों हो जाते हैं ?

.....

.....

.....

.....

.....

3) पूर्ण प्रतियोगिता में अतिरेक के रूप में लाभ शून्य क्यों हो जाता है ?

.....

.....

.....

.....

.....

12.5 सारांश

वर्तमान इकाई के तीन अलग-अलग अनुच्छेद हैं। हमने भाग 12.2 में भूमि के प्रतिफल के निर्धारण की चर्चा की है। इसमें रिकार्डों, मार्शल तथा आधुनिक लगान के सिद्धांतों पर विचार किया गया। यहीं हमने आभास लगान के बारे में भी बातचीत की। यह आभास लगान का विचार तो वस्तुतः सभी साधनों पर समान रूप से लागू हो सकता है, बस उस साधन की अल्पकालिक पूर्ति में कुछ लोचनीयता होनी चाहिए। भाग 12.3 में ब्याज संबंधी विचार कर चर्चा की गई है। हमने इसके कई सामान्य स्वरूपों तथा ब्याज के कारणों/या इसकी व्याख्याओं पर भी विचार किया है। ब्याज को पूँजी एवं निवेश से जोड़ते हुए इस विषय से जुड़े प्रमुख सिद्धांतों पर भी चर्चा की गई है। उद्यमवृत्ति के प्रतिफल के विषय में आपको भाग 12.4 में जानकारी दी गई है। यहीं पर उद्यम के कार्य, अनिश्चितता के प्रभाव और लाभ संबंधी मुख्य-मुख्य अवधारणाओं पर भी संक्षेप में विचार हुआ है।

12.6 शब्दावली

अनुबाधिक लगान	:	एक साधन के स्वामी और उसके प्रयोगकर्ता के बीच प्रयोग के निमित्त परस्पर तय की गई राशि।
साख/उधार	:	किसी को बिना तत्काल भुगतान किए वस्तुओं/सेवाओं के प्रयोग की अनुमति देना।
मितिकाटा	:	किसी परिसंपत्ति के अंकित मूल्य में से कम की गई राशि।
आर्थिक लाभ	:	लेखालाभ में से सभी निहित लागतें घटाकर प्राप्त राशि।
निहित लागतें	:	उन कारकों की लागत जिसका उत्पादक किसी को भुगतान नहीं करता, ये कारक उसके अपने हो सकते हैं।
नव प्रवर्तन	:	किसी आविष्कार का व्यवहारिक प्रयोग। यह सामान्यतः नई तकनीक, आदान, बाजार या उसका स्वरूप/ संगठन हो सकता है।
सामान्य लाभ	:	उद्यमी के पुरस्कार स्वरूप न्यूनतम भुगतान ताकि वह व्यवसाय में बना रहे।
आभास लागत	:	किसी साधन को उसकी औसत लागत से अधिक भुगतान-यह सामान्यतः अल्पकाल में ही संभव है।
हस्तांतरण आय	:	किसी साधन को उसके वर्तमान रोज़गार में रोके रखने के लिए न्यूनतम आवश्यक भुगतान। यह उस राशि के समान होता है जो कि उस साधन को किसी अन्य वैकल्पिक रोज़गार से प्राप्त हो सकती है।

12.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Stonier A.W. and Hague D.C. 1980 : *A Text Book of Economic Theory*, MacMillan, London

Lipsey R.G. *An Introduction to Positive Economics*, 6th Edition, ELBS and Weidented and Nicolsen, London

12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

- 1) भाग 12.2.1 देखें।
- 2) भाग 12.2.1 देखें।
- 3) भाग 12.2.1 देखें।
- 4) भाग 12.2.2 देखें।

बोध प्रश्न 2

- 1) भाग 12.3.1 देखें।
- 2) भाग 12.3.1 देखें।
- 3) भाग 12.3.2 देखें।
- 4) भाग 12.3.1 देखें।
- 5) भाग 12.3.1 का (घ) देखें।
- 6) भाग 12.3.3 देखें।

बोध प्रश्न 3

- 1) भाग 12.3.4 देखें।
- 2) भाग 12.3.4 देखें।

बोध प्रश्न 4

- 1) भाग 12.4.1 देखें।
- 2) भाग 12.4.2 का (ग) देखें।
- 3) भाग 12.4.2 का (ग) देखें।